IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

वर्तमान समाज की पौराणिक पृष्ठभूमि

1. डॉ. जितेन्द्र थदानी
सह आचार्य
स.पृ.चौ.राजकीय महाविद्यालय अजमेर

2. ज्योति रानी रिठोदिया
सहायक आचार्य
राजकीय महाविद्यालय बनेड़ा

शोध-सार

साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य की सहायता से ही साहित्यकार तत्कालीन समाज का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करता है। वह तत्कालीन समाज ही वर्तमान समाज का निर्माण करता है। वैदिक तथा पौराणिक साहित्य को वर्तमान समाज का आधार कहा जा सकता है। हमारी संस्कृति व समाज रूपी विशाल वृक्ष की जड़ें वैदिक व पौराणिक युग तक पहुंची हुई है। नि:संदेह भारतीय समाज का बीज पौराणिक साहित्य की देन है। किंतु प्राचीन आदर्शों से ओतप्रोत तथा अपने विशाल दृष्टिकोण से **"वसुधैव कुटुंबकम्"**[1] की अवधारणा से युक्त वह पुराणकालीन समाज आज आधुनिकता व पाश्चात्य प्रभाव के कारण विद्रूपता को प्राप्त हो गया है। समाज में इतनी विसंगतियां ने स्थान ले लिया है कि इसके प्राचीन आदर्श व जीवन-मूल्य रजोभाव को प्राप्त हुए दर्पण के समान मलिन प्रतीत होते हैं। विज्ञान के तेज से प्राचीन मूल्यों की आभा कांतिहीन हो गई है। समाज को दृढ़ता प्रदान करने वाले भारतीय संस्कृति की मूल तत्त्व शिथिल हो गए हैं। विज्ञान की उन्नति सामाजिकता के पतन का कारण बन रही है। इन विकट परिस्थितियों से समाज को बाहर निकालने व प्रगतिशील बनाने के लिए मनुष्य को पुनः अपनी प्राचीन संस्कृति व मूल्यों को स्मरण करने की आवश्यकता है। पौराणिक समाज के आदर्शों से अपने जीवन-यात्रा का निर्वाह करने पर ही मनुष्य वर्तमान समाज को सुदृढ़ आधार प्रदान कर सकता है। मानव प्राचीन मूल्यों तथा नवीन वैज्ञानिक सिद्धांतों के मणिकांचन संयोग से समाज को नई दिशा प्रदान कर सकता है।

बीज-शब्द

आधार-स्तम्भ, पंजरबद्ध, देवशास्त्रीय , सुदृढ़ता, कर्मकाण्ड, साहित्यिक मनीषा, सामाजिक-उत्कर्ष, समन्वयता, दैदीप्यमान, पुरुषार्थ-चतुष्टय, सद्गृहस्थ, सांप्रदायिक।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है या यूं कहे कि मनुष्य ही समाज का प्राण है । समाज और सामाजिक जीवन ही मनुष्य के स्वभाव का निर्माण करते हैं। इस प्रकार समाज मानव के साथ ही साथ चलता है। मानव का विकास या पतन समाज का ही विकास या पतन होता है। अतः मनुष्य को यदि परिभाषा की परिधि में बांधा जाए तो वही परिभाषा समाज की भी हो सकती है। अपने सामान्य अर्थ में समाज शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के लिए किया जाता है। किसी भी संगठित या असंगठित समूह को समाज कह दिया जाता है। मानव व्यवहार व संबंधों के नियंत्रण की व्यवस्था समाज में ही होती है।

प्रत्येक व्यक्ति में सभी कार्यों को करने की क्षमता व सामर्थ्य समान रूप से नहीं होता है। व्यक्ति अपने हितों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति एक दूसरे के सहयोग से करता है। सहयोग शब्द से आशय एक दूसरे को लाभ पहुंचाना बिल्कुल भी नहीं है , बल्कि समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न व्यक्तियों का संगठित प्रयत्न है। सहयोग के बिना मानव जीवन , समाज और संस्कृति के अस्तित्व एवं विकास की कल्पना भी असंभव है।

काव्य कवि-कल्पना और समाज की यथार्थता का ऐसा मिश्रण प्रस्तुत करते हैं , जो आकर्षक होने के साथ ही सार्थक भी होता है। इसलिए जहां एक और काव्य से आनंद की अनुभूति होती है वहीं दूसरी ओर सामाजिक जीवन में व्यवहार ज्ञान भी होता है।इस दृष्टि से पौराणिक साहित्य भारतीय साहित्य परंपरा में अनुपम स्थान रखता है। पौराणिक साहित्य में जहां एक और अद्भुत कल्पनाओं के माध्यम से कथाओं का संकलन किया गया है , वहीं दूसरी और इनमें जीवन व्यवहार के अनूठे उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। एक और जहां विभिन्न चरित्रों के आख्यानों को प्रस्तुत किया गया है , वहीं दूसरी ओर समाज के चरित्र तथा व्यवहार के स्वरूप को भी संकलित किया गया है। एक और जहां देवताओं तथा दानवों का चित्रण है ,वहीं दूसरी और व्यैक्तिक समाज के विभिन्न चरित्रों तथा उनके व्यवहार का चित्रांकन किया गया है। इतना ही नहीं ,पौराणिक साहित्य में उस समय के समाज में प्रचलित वेशभूषा, खान-पान ,आर्थिक स्थिति, प्रथाओं मान्यताओं का जो रूप देखने को मिलता है, उनसे वर्तमान समाज की अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त हो जाता है।

पुराणों का महत्व इसी से स्पष्ट होता है कि याज्ञवल्क्य आदि महर्षियों ने विद्याओं की गणना में पुराण विद्या को प्रथम स्थान दिया है ।यथा-

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांग मिश्रिता: ।

वेदा: स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।। [2]

अर्थात् पुराण ,न्याय ,मीमांसा, धर्मशास्त्र, छह वेदांग और चार वेद - ये चौदह विद्या व धर्म के स्थान है ।

भारतीय संस्कृति को विश्व की प्राचीनतम संस्कृति माना जाता है । आज भी यह विवादास्पद विषय है कि भारतीय समाज की जो संरचना हमें आज प्राप्त होती है ,उस संरचना का आधार क्या था? वेदों में आस्था रखने के कारण हम उनमें वर्णित व्यवस्था को ही समाज निर्माण का आधार मानते हैं ।वेदों में निहित धार्मिक-नैतिक मूल्यों को ही हम सामाजिक आदर्शों के स्थान पर रखते हैं । उनमें वर्णित वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था ,संस्कारों को ही भारतीय संस्कृति का आधार-स्तंभ माना जाता है तथा वेदों में कथित चारों पुरुषार्थों को ही मानव-कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है । इसी संदर्भ में वेदों की रचना के पश्चात जिन ग्रंथों की रचना हुई ,उन्होंने वेदों को अपना आदर्श माना तथा उसी को आधार बनाते हुए साहित्य रचना हुई । इन्हीं साहित्यिक ग्रंथों को पुराण की संज्ञा दी गई ।

साहित्य में अपने समय का सामाजिक-जीवन दर्पण के समान ही प्रतिबिंबित होता है । पौराणिक साहित्य समय के साथ विकसित हुई समस्त जीवन अवस्थाओं को स्वयं में समाहित करता है । राष्ट्र के सामाजिक-मानवीय जीवन का प्रतिनिधि होने के कारण पुराणों में देश की सभ्यता व संस्कृति का अलौकिक रूप प्राप्त होता है । पुराणों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के वे सभी तत्त्व समाहित हैं, जिस पर वर्तमान समाज की आधारशिला स्थित है ।वेदों में मंत्रदृष्टा ऋषियों ने प्राकृतिक शक्तियों , उनकी उपासना तथा प्राकृतिक तत्वों के साथ उनके संबंधों की व्याख्या पर ही अधिक दृष्टिपात किया था । जिनके परिणामस्वरुप भारतीय समाज के जन-सामान्य की समुचित रूपरेखा को प्रस्तुत करने में उनका स्थान पूर्ण नहीं कहा जा सकता । परंतु पुराणकर्ता की दृष्टि अपने युग के समाज पर पूर्ण रूप से पड़ी थी । उनकी दृष्टि न केवल वैदिक-परंपरा द्वारा संवर्धित उच्चवर्गीय समाज पर ही थी अथवा समाज की परिवर्तनशील अवस्थाओं के विकास पर ही थी वरन् सामान्य जनजीवन की अवस्थाओं के सूक्ष्म बिंदु पर भी केंद्रित थी। इस प्रकार वैदिक मंत्रों में सामाजिक जीवन का जो

पक्ष अंधकार में पंजरबद्ध था, उसके प्रकाश हेतु पौराणिक साहित्य सूर्य बनकर उदित हुआ तथा जन-जन के सामाजिक जीवन का यथार्थ सम्यक् रूप से आभासित हो सका।

पौराणिक साहित्य यद्यपि दैवीय(देवशास्त्रीय) है, परंतु इनमें भारतीय संस्कृति व सामाजिक व्यवस्था का वृहद विवेचन है ।विद्वानों द्वारा यह सुनिश्चित है कि पुराणों में पंचलक्षणात्मक विषयों को सम्मिलित किया गया है ,इस दृष्टि से भी पुराण भारतीय समाज के प्रतिनिधि ग्रंथ कहे जा सकते हैं । श्रीविष्णुपुराण के अनुसार-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तराणि च ।

सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितं च यत् ।। 3

अग्नि पुराण,गरुड़ पुराण ,वायु पुराण आदि अनेक पुराणों में इस मत की पुष्टि की गयी है तथा महाभारत तथा आपस्तम्ब-धर्मसूत्र भी इसी मत का समर्थन करता है । पौराणिक साहित्य में भारतीय वर्ण व्यवस्था की परंपरा को न केवल स्वीकार ही किया गया है वरन् इस व्यवस्था को सुदृढ़ता भी प्रदान की है । परंतु पुराणों के सूक्ष्म अध्ययनों से भारतीय सामाजिक जीवन में परंपरा से मान्य विभिन्न वर्णों की सांस्कृतिक अवधारणाओं का सूक्ष्मतम अनुशीलन अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है ,क्योंकि वर्तमान भारतीय समाज पर पौराणिक परंपरा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित है जबकि इतिहास के मूलभूत आधार राज्य, सामाजिक संरचना, सामाजिक संगठन ,नीति, वर्ण, जाति, संप्रदाय ,व्यवसाय, वर्ग तथा वर्ग संघर्ष और पौराणिक साहित्य में वर्णित धर्म एवं उसके कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति में अनेक विभेद दिखाई देते हैं । वस्तुत: साहित्यिक मनीषा इन अंतर्द्वंद्वों के व्यावहारिक पक्ष को पूर्णत: समाहित नहीं कर पाई है ।

भारतीय समाज की प्रकृति पुरातनी व सनातनी मान्यताओं को, उनके मूल्यों तथा जीवन- आदर्शों को रक्षा-सूत्र से सुरक्षित और सुनियोजित करते हुए अनेक नव्य मान्यताओं को स्वीकार करने की रही है ।आज भी भारतीय समाज वर्णाश्रम व्यवस्था की पारंपरिक मान्यताओं को दृढ़ता के साथ आत्मसात् करता है । यद्यपि समय तथा नित्य परिवर्तनशील परिस्थितियों ने वर्ण एवं जाति के मौलिक अंतर को लगभग मिटा सा दिया है ।

पुराणों में वर्ण व्यवस्था तथा उससे पल्लवित और पुष्पित जाति व्यवस्था को बताया गया है । पुराणों के सूक्ष्म अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि प्रारंभ में समाज चतुर्वर्गीय (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) था । समाज

का यह विभाजन कर्मों पर आधारित था । प्रत्येक वर्ण को विशिष्ट कार्यों से संयुक्त किया गया था । जिसका उद्देश्य था- सामाजिक-उत्कर्ष ,सामाजिक-व्यवस्था , समन्वयता तथा कार्य कुशलता । इस व्यवस्था में प्रत्येक वर्ग बिना किसी अन्य वर्ग के विशिष्ट कर्तव्यों का अतिक्रमण किए अपने वर्ग को दिए गए दायित्वों में अधिक कुशलता प्राप्त करने का प्रयास करता था । पुराणों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि कालांतर में स्थानीय जातियों का सुदृढ़ीकरण हो गया । साथ ही कुछ वर्ण संकर और विदेशी जातियों के सम्मिलन से समाज बहुगुणित हो गया । यह जातियां या तो वर्ण-व्यवस्था से ही निर्मित थी अथवा अपने अस्तित्व को बनाए रखने हेतु विभिन्न वर्णों से जुड़ने को उत्साहित थी। प्राचीन वर्ण व्यवस्था में मानव जीवन प्रबंधन हेतु आश्रम व्यवस्था का विधान हुआ ।आश्रम व्यवस्था समाज निर्माण में अद्वितीय प्राचीन भारतीय चिंतन को दर्शाता है । आश्रम व्यवस्था का यह विभाजन ज्ञान,कर्त्तव्य तथा अध्यात्म के आधार पर किया गया था । मनुष्य के जीवन को सौ वर्ष का मानकर प्रत्येक पच्चीस वर्ष में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,वानप्रस्थ,संन्यास का निर्धारण किया गया था। मनुस्मृति के अनुसार-

ब्रह्मचारी गृहस्थाश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।

एते गृहस्थ प्रभावाश्चत्वार: पृथगाश्रमः । । [4]

वस्तुतः मानव जीवन को संयमित ,सुव्यवस्थित तथा सुसंस्कृत करने के लिए ही उनकी व्यवस्था की गई थी ।

आश्रम व्यवस्था में सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम को अग्नि पुराण में व्यक्ति व समाज के लिए नींव का पत्थर बताया गया है । प्राचीन समय में शिक्षा का परिणाम विद्यार्थी को एक सुयोग्य तथा सभ्य नागरिक बनाना था । आज की शिक्षा जो पूर्णतः पुस्तकीय ज्ञान पर आधारित है ,तत्कालीन इससे बिल्कुल विपरीत अर्थात् किताबी शिक्षा को गौण स्थान पर कर विद्यार्थी को कर्मठ तथा जीवन में धैर्य ,वीरता, उदारता आदि गुणों से युक्त करने वाली थी । बालक को प्रारंभ से ही गुरु के प्रति सेवाभावी तथा उनके समस्त आदर्शों पर चलने की शिक्षा दी जाती थी । साथ ही गुरु का भी यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वह यथोचित विधि से शिष्य का उपनयन संस्कार कर फिर उसे प्रारंभ से ही शुद्धि के लिए शिक्षा दें । यथा-

उपनीय गुरु: शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादित: ।

आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनामेव च । । [5]

विष्णु पुराण में भी ब्रह्मचर्य आश्रम के वर्णन में शिष्य को गुरु के समीप रहकर आचार की शिक्षा प्राप्त करने के विषय में कहा गया है कि-

बाल: कृतोपनयनो वेदाहरणतत्पर: ।

गुरु गेहे वसेद्भूप ब्रह्मचारी समाहित: ।।

शौचाचार व्रतं तत्र कार्यं शुश्रुषणं गुरो :।

व्रतानि चरता ग्राह्यो वेदश्च कृतबुद्धिना ।। [6]

इसी क्रम में अग्नि पुराण में ही शिष्य के लिए अहिंसा की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि किसी भी प्राणी को शारीरिक तथा मानसिक कष्ट न देकर दूसरों की बुराई अथवा विशेष रूप से कटु वचन किसी को भी न बोले । यथा-

हिंसा परापवादं वा अश्लीलं च विशेषतः ।

दण्डादि धारयेन्नष्टमप्सु क्षिप्तवान्यधारणम् ।। [7]

गरुड़ पुराण में भी चारों आश्रमों का धर्म बतलाते हैं- ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है- अपने गुरु के समीप रहकर अग्निहोत्र का नियमपूर्वक पालन तथा वेद-वेदांगों का समयानुसार अध्ययन करना । यथा-

गुरौ वासोऽग्नि शुश्रुषा स्वाध्यायो ब्रह्मचारिण: । [8]

संभव है उस समय शिक्षा का क्षेत्र वर्तमान काल की अपेक्षा बहुत संकुचित रहा हो, किन्तु फिर भी शिष्य सामान्य धर्म तथा कर्त्तव्यों का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर संसार की धरा में सफलतापूर्वक प्रवेश कर लिया करते थे । परंतु वे जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त करते थे ,वह ज्ञान आजीवन स्थाई रहता था । किंतु वर्तमान शिक्षा प्रणाली में इस सुदृढता का अभाव होने के कारण बालक विद्यालय शिक्षा पूर्ण कर लेने के बाद भी प्राप्त ज्ञान में स्थायित्व न होने से विस्मरण हो जाता है तथा व्यावहारिकता के अभाव से धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है ।अतः आज बालकों की शिक्षा व्यवस्था में जिस स्थायित्व तथा सुदृढ़ता की जो आवश्यकता अनुभूत हो रही है उसका एक ही विकल्प हो सकता है- हमारी सनातन एवं पौराणिक संस्कृति ।

चारों आश्रमों का आश्रय गृहस्थाश्रम को ही कहा गया है, क्योंकि अन्य सभी आश्रमों की स्थिति का मूलाधार गृहस्थाश्रम ही है। श्री विष्णु पुराण में कहा गया है कि-

भिक्षा भुजश्चये केचित्परिव्राड्ब्रह्मचारिण:।

तेऽप्यत्रैव प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्यं तेन वै परम्।। 9

अर्थात् भिक्षावृत्ति का आचरण करने वाले संन्यासी और ब्रह्मचारी आदि का आश्रय गृहस्थाश्रम है। अतः यही आश्रम श्रेष्ठ है।

गृहस्थ धर्म के पालन में ही मनुष्य का सामाजिक जीवन माला में मनके के समान दैदीप्यमान होता है। पुराणों में इन चारों आश्रमों के अनुपालन में क्रमबद्धता के अनुसरण पर विशेष बल दिया गया है इस प्रकार आश्रम धर्म के पालन में मानव के जीवन में अनुशासन, सेवा, त्याग, अध्ययन, प्रेम, अनासक्ति की भावना का आविर्भाव हो जाता था, जो उसे व्यक्तित्व की पूर्णता की दिशा में ले जाती थी।

आधुनिक समाज में गृहस्थ के संबंध में यदि विचार करें तो उनमें भी वही विसंगतियां प्राप्त होती है। प्राचीन समय में गृहस्थ पूर्ण रूप से उन नियमों का पालन करते थे ,जिनसे समाज में सुव्यवस्था का संचालन होता था। यद्यपि उस समय में आज की तुलना में आरक्षि तथा कानून जैसी सुदृढ़ व्यवस्था नहीं थी किंतु फिर भी लोग अपने सामाजिक धर्म का नियमपूर्वक अनुसरण करके आज की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी और संतुष्ट जीवन व्यतीत करते थे। क्योंकि इसका मूल कारण यह है कि पौराणिक काल में समाज में रहता हुआ गृहस्थ हेतु उतना ही अर्जित करने का विधान था जिससे उसके परिवार का भरण-पोषण हो सके और जो इससे अधिक प्राप्त करता था वह स्तेन संज्ञा प्रकार दण्ड-प्राप्ति का अधिकारी बनता था।

यावत् म्रियेत् जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।

अधिकं योऽभिमन्येत् स स्तेनो दण्डमर्हति ।। 10

पुराणों में गृहस्थाश्रम के क्रम में इसके महत्व को निरूपित किया गया है। यह समस्त आश्रमों में इसलिए प्रधान है क्योंकि यह पुण्यवान आश्रम है तथा यह भी कहा गया है कि-

" गृहस्थ के घर पुण्यकाल में ही पितर तथा अतिथि का आगमन होता है । अतः गृहस्थ नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्म करते हुए इस लोक में पुण्य को भोगता है तथा स्वर्ग सुख का अनुभव करता है । अपने धर्म के पालन से ही गृहस्थ यश, पुण्य ,धन तथा सुख प्राप्त करता हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है ।" [11]

आचार्य शुक्राचार्य ने भी गृहस्थ धर्म को उत्कृष्ट मानते हुए **'सर्वेषां पालने गृही'** कहा है । यथा-

विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात् सर्वेषां पालने गृही ।

वानप्रस्थ: संदमने सन्यासी मोक्ष साधने । । [12]

पुराणों में पुरुषार्थ चतुष्टय की अवधारणा की व्याख्या की गई है । यह चार पुरुषार्थ धर्म,अर्थ, काम, मोक्ष मानव जीवन के चार उद्देश्य कह गए हैं । धर्म वह है जो मानव को दिशा दर्शन देता है । धर्म साध्य भी है और साधन भी । साधन के रूप में धर्म अर्थ तथा काम को नियंत्रित करता है तथा साध्य के रूप में मनुष्य के व्यक्तित्व, चरित्र ,गुण तथा कर्त्तव्य का निर्धारण करता है। धर्म की स्थापना में सृष्टि ही हेतु है। धर्म ही इस सृष्टि की रक्षा करता है तथा संरक्षण भी प्रदान करता है । **"धारणाद् धर्म: इत्याहु:"**[13] अर्थात् संपूर्ण सृष्टि को धारण करने वाला धर्म ही है । अर्थ सांसारिक उन्नति का साधन है । इस प्रकार अर्थ सांसारिक समृद्धि का प्रतीक माना जाता है । काम शब्द का संकुचित तथा व्यापक दोनों अर्थों में प्रयोग है । अपने संकुचित अर्थ में काम मनुष्य की वासना है ,जो उसे कुमार्ग की ओर ले जाता है जबकि व्यापक अर्थ में काम का संबंध मानव की भावनाओं व इच्छाओं से हैं ,जो उसे कार्य करने की प्रेरणा देती है । इस प्रकार काम मानव की इच्छाओं के लिए उत्प्रेरक का कार्य करता है ।अंतिम पुरुषार्थ मोक्ष, जिसे नि: श्रेयस की संज्ञा दी गई है। यह जन्म मृत्यु के बंधन को नष्ट कर परम की ओर ले जाता है। पूर्व के तीनों पुरुषार्थों की प्रवृत्ति मोक्ष के लिए होती है। इसे प्राप्त कर मनुष्य अनित्य तथा दुखमय जीवन को नष्ट कर समस्त सृष्टि में एकाकार हो जाता है।

इस प्रकार पौराणिक साहित्य की वर्णाश्रम व्यवस्था सामाजिक व आर्थिक पृष्ठभूमि का निर्माण करती है। वस्तुतः पुराण ऐसे कालखंड की रचना प्रतीत होते हैं जब वैदिक साहित्य स्वयं की जटिलता व दुरूहता के कारण तथा सर्ववर्ण दुष्प्राप्य होने के कारण अपना वैदिक मूल्य खोते जा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में पुराण एक नवीन दृष्टि के रूप में वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत वर्णाश्रम धर्म के माध्यम से उन्हें वैदिक तत्वों की समुचित व सम्यक् व्याख्या करते हैं। इस प्रकार से पुराणों ने श्रुति एवं स्मृतियुगीन सामाजिक सिद्धांतों को लोकप्रिय तथा व्यावहारिक बनाकर सुदृढ़ समाज के निर्माण में अहम् भूमिका निभाई ।

अग्नि पुराण में प्रत्येक सामाजिक मानव को अपने-अपने वर्ण और आश्रम के समस्त नियमों का पालन अत्यावश्यक बताया गया है । इसी से व्यष्टि और समष्टि का कल्याण संभव है। यह सर्वविदित है कि आज के समाज की स्थिति पौराणिककालीन समाज से बहुत परिवर्तित हो चुकी है। परिस्थितियों के बदले जाने से आज चार वर्णों में समाज का विभाजन स्थिति के सर्वथा प्रतिकूल जान पड़ता है और आश्रम धर्म तो निर्जीव या अव्यावहारिक ही हो गया है, किंतु एक समय था जब इन्हीं धर्म तथा व्यवस्थाओं के कारण भारत देश संसार में आदर्श पदवी पर विराजमान था। अग्निपुराण में वर्ण-आश्रमों के धर्म का जो विवरण उपलब्ध होता है, वह इतना महत्वपूर्ण है कि जिनका अनुकरण आज भी समाज के लिए आदर्श सिद्ध हो सकता है । वैसे तो वर्तमान अनेक यंत्रों, कारखानो व जनोपयोगी सामग्री निर्माण में भूत को सदियों पीछे छोड़ चुका है तथा प्राचीन सामाजिक प्रवृत्तियों को पुनर्जीवित करना कुछ असंभव सा है, परंतु उनमें से जितनी प्रमुख बातों को कुछ परिवर्तित करके यदि समय अनुकूल बन सके तो उनसे अवश्य ही लाभ प्राप्त करना हमारा कर्त्तव्य है।

गृहस्थ आश्रम एक श्रेष्ठ आदर्श है, क्योंकि जिस स्थानीय समाज में ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ सद्गृहस्थों की बहुलता होगी, वह अवश्य ही उन्नति के पथ पर अग्रसर होगा। यद्यपि वर्तमान में मानव के लिए धन व साधनों में अत्यधिक वृद्धि हो गई है, किंतु वह इनका प्रयोग स्वयं तथा परिजनों के सुखोपभोग हेतु ही करता है। यदि समाज कल्याण के कार्यों में कुछ व्यय करते भी हैं, तो भी कहीं ना कहीं उनमें स्वार्थ प्रयोजन ही रखते हैं ।यही प्रमुख कारण है कि वर्तमान समाज में असंतोष,अशांति, अराजकता ने अपनी जड़े जमा ली है । यदि मनुष्य अपने व्यवहार में पुरातन आदर्शों को भी अंगीकृत करें तो अवश्य ही वर्तमान समाज की इस दु:स्थिति में बहुत कुछ सुधारात्मक परिवर्तन लाए जा सकते हैं।

समाज में रहते हुए आवश्यक है कि मनुष्य का कर्त्तव्य समष्टि की ओर हो स्वार्थ की ओर कदापि नहीं । क्योंकि देवोपासना तथा सांप्रदायिक कार्यों से भी बढ़कर मनुष्य के कर्त्तव्य तथा व्यवहारों को माना गया है ,जो प्रतिदिन अन्य व्यक्तियों के संपर्क हेतु किए जाते हैं ।कोई व्यक्ति नित्य शास्त्रोक्त विधि-अनुसार पूजा अर्चना, अनुष्ठान आदि करके भी यदि विपत्तिग्रस्त की सहायता न करें, लोगों के सद्कार्यों में सहयोग न करें, उसकी यह पूजा-अर्चना व्यर्थ की समझी जाती है। क्योंकि ईश्वर प्रणय का मूल बीज यही है कि मानव के हृदय में उदारता तथा सज्जनता के भाव हो तथा समाज में रहते हुए इस बात का ध्यान रखें कि उसके व्यवहार से अन्य को प्रसन्नता हो । यह नहीं कि वह अपने कटु आचरण से अन्य को पीड़ा पहुंचाएं। नारदपुराण में बहुत स्पष्ट कहा गया है -

सर्वलोक हितैषित्व मंगल प्रियवादिता।

अनायासो मनोहर्षस्तितिक्षा नातिमानिता ।

सामान्य सर्ववर्णानां मुनिभि: परिकीर्तितम्।। [14]

अर्थात् सब का हित चाहना, सबका शुभ करना, प्रिय बोलना, किसी को कष्ट न देना ,मन को प्रसन्न रखना, सहनशीलता ,घमंड न करना मुनियों के द्वारा यह सभी वर्ण के मनुष्यों का धर्म बताया गया है । इसका पालन करने वाला मनुष्य समाज में सम्मान प्राप्त करता है तथा इसके विपरीत आचरण करने वाला तो सामाजिकता के भी अयोग्य माना जाना चाहिए । मनुष्य ही समाज की इकाई है । अतः इन सामाजिक सद्गुणों से युक्त मनुष्य ही एक सशक्त तथा उन्नतशील समाज का निर्माण कर सकता है । यद्यपि वर्तमान समाज को हम अधिक उन्नतशील समझते हैं । उद्योग-धंधों तथा वैज्ञानिक उपकरणों ने मानव-जीवन को पहले की अपेक्षा अधिक सुलभ, सुकर तथा सुविधापूर्ण बना दिया है, किंतु वस्तुतः यह सत्य नहीं है । समाज की वर्तमान व्यवस्था नियम तथा कर्त्तव्य-पालन की अपेक्षा धन एवं स्वार्थ पर आधारित हो गई है । जो जितना अधिक धन संपन्न है , वह समाज में उतना अधिक उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त करता है । जो **"सर्वे गुणा: कांचनमाश्रयंति"** [15] को सिद्ध करता है । जब सदाचार की अपेक्षा धन को मनुष्य की उत्कृष्टता की कसौटी बना दिया जाए तो फिर मानव समाज की सभ्यता व संस्कृति की उन्नति कैसे सिद्ध हो सकती है , क्योंकि धन तो मनुष्य अच्छे बुरे जिस किसी उपाय से भी प्राप्त कर सकता है , पर इससे उसमें सद्गुणों की वृद्धि कैसे होगी? यही यक्ष प्रश्न है।

प्राय: हम देखते हैं कि इस प्रकार अनायास धनार्जन करने वाले अनेक दुर्व्यसनो के पाश में बंध जाते हैं और अनेक कुकर्म करने लगते हैं । इसलिए प्राचीन मुनियों ने धर्म तथा कर्त्तव्य के जितने भी लक्षण बताए हैं उनमें धन की अधिकता का कहीं कोई स्थान नहीं है । मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण कहे गए हैं ।

धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह: ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोध दशकं धर्म लक्षणम् । । [16]

उक्त दस लक्षणों में कहीं भी धन को धर्म नहीं कहा गया है । भगवद्गीता में तो पूजा पाठ का कहीं नाम तक नहीं लिया गया है ।इसका आशय यही है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्य का बोध कर उत्तरदायित्वपूर्ण इसका पालन करे , यही भगवत भक्ति है। फिर जो उपर्युक्त समस्त धर्म का यथाविधि पालन करेगा ,उसे जीवन-निर्वाह

हेतु स्वयं ही साधन सुलभ हो जाएंगे ।यदि कम भी हो तो भी यह देखकर संतोष रखेगा कि संसार में अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जिनको उतना भी प्राप्त नहीं है।

प्राचीन समय में जिन नैतिक गुणों के बल पर समाज की स्वर्णिम आभा से देश चमकता था, वह नैतिक गुण आज समाज से विलुप्तप्राय: हो गए हैं ।मानवीय मूल्य समाज में समाप्त से हो रहे हैं।पूर्व में बालक संयुक्त परिवार में रहता हुआ अपने पूर्वजों से साक्षात् संस्कार धारण कर अपने नैतिक मूल्यों के बल पर समाज में आदर्श स्थापित करता था, किंतु आज समाज में संयुक्त परिवार का स्थान एकल परिवार ने ले लिया है ।परिवार में बालक सिर्फ अपने माता-पिता से ही कुछ थोड़ा ही सीख पाता है ।उनमें भी माता-पिता दोनों ही अर्थार्जन में लगे हो तो बालक में संस्कारों का रोपण तो दूर बल्कि उत्तम परवरिश भी हो जाए तो वह भी बहुत होगा । समय की तेज गति और व्यक्ति की ऊहापोह में मनुष्य जहां अपने परिवार को ही समय नहीं दे पाता है । उस स्थिति में उसके द्वारा समाज के लिए समय निकालना तो बहुत दूर की कौड़ी है ।यही कारण है कि परिवार के विघटन के साथ ही साथ समाज भी विघटित होने लगे हैं । समाज की इस दुर्दशा का एक कारण विज्ञान भी कहा जा सकता है । मोबाइल फोन का आविष्कार निश्चित ही क्रांति है,जिसने मानव जीवन को अत्यंत सरल व सुगम बना दिया है। किंतु इस छोटे से यंत्र ने मानव की संपूर्ण सामाजिकता का विनाश कर डाला है। आज मनुष्य केवल सोशल मीडिया पर ही सामाजिक कहलाने लगा है । मित्र केवल व्यक्ति के फेसबुक पर ही है । विज्ञान की इस उन्नति से मानव की सामाजिकता का नि:संदेह पतन हुआ है ।किंतु मनुष्य यदि अपने अंतर्मन में प्राचीन संस्कृति के पल्लव कुसुम को कभी ना मुरझाने दे और जीवन-मूल्यों रूपी जल से सदैव इसका सेचन कर इसे परिवर्धित करें तो निश्चय ही प्राचीन आदर्शों तथा नवीन विज्ञान के सामंजस्य से जिस नूतन समाज का निर्माण होगा, उससे पुनः भारत संसार में विश्व गुरु कहलायेगा ।

इस प्रकार मनुष्य पौराणिक समाज के आदर्शों से पुरातन संस्कृति की सुदृढ़ नींव पर नूतन समाज का भव्य निर्माण कर सकेगा। भारतीय संस्कृति के आदर्श गुणों को अपनाकर अपने जीवन में पुरातनी कूंची से नए रंग भर सकेगा । जिस दिन मनुष्य धनपिपासु के स्थान पर धर्मपिपासु बनेगा, उसी दिन से वर्तमान समाज का अजेय रथ विकास व उन्नति के शिखर हेतु अग्रसर हो सकेगा।

1. हितोपदेश 6-117
2. याज्ञवल्क्यस्मृति 1-3
3. विष्णुपुराण 3-6-25
4. मनुस्मृति 6-87
5. अग्निपुराण 85-12
6. विष्णुपुराण 9 – (1-2)
7. अग्निपुराण 85-15
8. गरुडपुराण 115-13
9. विष्णुपुराण 9-11
10. भागवत महापुराण , 7-14-8
11. ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्रह्म खण्ड 24-9
12. शुक्रनीतिसार 4-4-2
13. महाभारत शांति पर्व 106-11
14. नारदपुराण 24-(28-29)
15. नीतिशतक 33
16.मनुस्मृति 6-92